(गो.ब्रा.1.1.13) इस वचन के अनुसार अथर्वाङ्गिरसों की प्रसिद्धि गोप्ता (रक्षक) के रूप में है। **गुप्** धातु में **अथ** के योग से **गोपथ** शब्द व्युत्पन्न हो जाता है। इन्हीं गोपथों से सम्बद्ध रहा है यह ब्राह्मणग्रन्थ।

आथर्वणपरिशिष्ट (चरण्व्यूह) के अनुसार गोपथ में 100 प्रपाठक हुआ करते थे – **तत्र गोपथः शत प्रपाठकं ब्राह्मणम् आसीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वम् उत्तरं च।** सम्प्रति इसमें दो भाग हैं – पूर्व और उत्तर। पूर्वभाग में पांच प्रपाठक हैं और उत्तरभाग में छः। इस प्रकार समस्त प्रपाठकों की संख्या केवल 11 है। पूर्वभाग में पांचों प्रपाठकों की कुल कण्डिकाएं 135 हैं और उत्तर भाग में 123।

गोपथ के पूर्वभाग के प्रथम प्रपाठक में सर्वप्रथम सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक की प्रथम आठ कण्डिकाओं में ब्रह्मचारी के महत्त्व और कर्त्तव्यों का निरूपण है। तदनन्तर यज्ञ में होता प्रभृति चारों ऋत्विजों की भूमिका का प्रतिपादन है। तृतीय प्रपाठक में यज्ञ विवेचन है। चतुर्थ प्रपाठक में गवामयनादि सत्रयागों की मीमांसा है। यही विषय पंचम प्रपाठक में भी है। अन्त में बहुसंख्यक कारिकाएं भी है जो कि यज्ञ क्रम के स्मरण को सुगम बनाती हैं। उत्तरभाग के प्रथम प्रपाठक में ब्रह्माख्य ऋत्विक् की प्ररोचना है। तदनन्तर 12वीं कण्डिका तक दर्शपूर्णमास का वर्णन है। इसके पश्चात् 04 कण्डिकाओं (13-16) में काम्येष्टियों का निरूपण है। तदनन्तर 10 कण्डिकाओं (17-26) में आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्यों का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक की प्रथम कण्डिका में काम्येष्टियों का उल्लेख है। तत्पश्चात् तानूनप्त्रेष्टि, प्रवर्ग्येष्टि, यज्ञ-शरीर के भेद, दूसरे के सोमयाग के ध्वंस और सोमस्कन्द-प्रायश्चित्त का वर्णन है। आगे स्तोमभाग, आग्नीध्र, प्रवृत्ताहुतियों, सदस्जन्यकर्म, प्रस्थित ग्रहों तथा दर्शपूर्णमास का निरूपण है। तृतीय प्रपाठक की विषयवस्तु क्रमशः यह है – वषट्कार और अनुवषट्कार (1-6) ऋतुग्रहादि (7-11), एकाह प्रातः सवन (12-19), एकाह माध्यन्दिन सवन (20-23)। चतुर्थ प्रपाठक में पूर्वक्रम का अनुवर्तन करते हुए एकाह के तृतीय सवन का निरूपण करने के अनन्तर षोडाशीयाग का विधान है। इसी क्रम में पंचम और षष्ठ प्रपाठकों की सामग्री भी है, जिनमें अतिरात्र, सौत्रामणी, वाजपेय, अप्तोर्याम, अहीन और सत्रयाग निरूपित हैं।

गोपथ ब्राह्मण के विविध संस्करणों में राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द्र विद्याभूषण के द्वारा संपादित तथा सन् 1872 में, कलकत्ता से प्रकाशित, जीवानन्द सागर द्वारा 1891 में कलकत्ता से प्रकाशित, ड्यूक गास्ट्रा द्वारा सुसम्पादित, लाइडेन से 1918 में प्रकाशित, 1972 में इण्डोलाजिकल बुक हाउस के द्वारा फोटो-प्रति के रूप में इसी का पुनर्मुद्रण। क्षेमकरणदास द्विवेदी के द्वारा 1924 में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित। इसी का प्रज्ञा देवी के द्वारा पुनः सम्पादित रूप में 1977 में प्रकाशन हुआ। डॉ. विजयपाल विद्यावारिधि के द्वारा सम्पादित तथा 1980 में रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा से मुद्रित।

2.15 आरण्यक की आवश्यकता

श्रौतयागों के यथार्थ स्वरूप बहुविध विस्तृत होने के कारण उनका वास्तविक तत्त्व (मर्म) लुप्त होने लगा जन मानस लुप्त होने लगा था, परिणामतः यह आवश्यकता हुई कि श्रौतयागों की आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक व्याख्या हो। ब्राह्मण ग्रंथो के उत्तरार्द्ध में वैदिक यागों के मूल में निहित गम्भीर अर्थवत्ता, वास्तविक मर्म एवम् आध्यात्मिक रहस्यों के सन्धान के लिए जिस चिन्तन को आकार प्राप्त हुआ, उसी का नाम आरण्यक साहित्य पडा। ये ग्रन्थ ब्राह्मण एवम् उपनिषदों के मध्य सेतुवत् हैं। वानप्रस्थी लोगों के यह साहित्य विशेषतः उपयोगी है। उपनिषदों में प्राप्त आध्यात्मिक उन्नति का कारक ये आरण्यक ही हैं।

2.16 आरण्यक पद का तात्पर्य

आरण्यक नाम से ज्ञात होता है कि निश्चय ही इनका सम्बन्ध अरण्य (वन) से तो होगा ही। अरण्यों की एकान्तता में विविध गूढ आध्यात्मिक रहस्यों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत सरल थी। तैत्तिरीयारण्यक-भाष्यभूमिका में सायणाचार्य ने कहा है - **अरण्याध्ययनादेतदारण्यकतमितीर्यते। अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।** अर्थात् अरण्यों में पठन-पाठन के कारण आरण्यक यह नामकरण हो गया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से **अरण्य** में **वुञ्(भावार्थक)** प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस प्रकार **अरण्ये भवमिति आरण्यकम्** ऐसा बोध होता है। बृहदारण्यक में भी इसी वचन का समर्थन किया गया है – **अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्।** ब्रह्मविद्या के अपर नाम **रहस्य** होने के कारण एवं इसी विद्या को इन ग्रंथो में विशेषत: प्रतिपादित किये जाने के कारण आरण्यक का एक नाम रहस्य भी है। महाभारत में कहा गया है जिस प्रकार दधि से नवनीत, मलयगिरि से चन्दन और औषधियों से अमृत प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार वेदों से आरण्यक लिया जाता है। यथा –

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा। आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्योमृतं यथा ।। 331.3

2.17 आरण्यक-ब्राह्मण का सम्बन्ध

ब्राह्माण ग्रंथो के उत्तरार्द्ध में वस्तुत: आरण्यक संकलित हैं। कर्मकाण्ड के साथ दोनों का सम्बन्ध है। राजा जनक के द्वारा सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञ को 100 गायें देने का कथानक शतपथ के साथ बृहदारण्यक में भी उपलब्ध है। बृहदारण्यक में केवल यह वैशिष्ट्य इतर है कि इसमें याज्ञवल्क्य तथा अन्य तत्त्वज्ञानियों में परस्पर हुए दार्शनिक विचार विमर्श भी हैं। इससे आरण्यकों की ब्राह्मणों पर निर्भरता ज्ञाता होती है। डॉ राधाकृष्णन् के अनुसार ब्राह्मणों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गृहस्थों के लिए था, किन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, तो कर्मकाण्ड के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की उसे आवश्यकता होती थी और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं।

2.18 आरण्यक ग्रंथो का प्रतिपाद्य विषय

आरण्यकों में मुख्यतया प्रतिपादित विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन है । दुर्गाचार्य ने **निरुक्त भाष्य (1.4)** में **ऐतरेयके रहस्य ब्राह्मणे** कहकर आरण्यकों के लिए **रहस्य-ब्राह्मण** संज्ञा का प्रयोग किया है। आरण्यक यज्ञ के गूढ रहस्य के प्रतिपादक है। रहस्य शब्द से अभिहित ब्रह्मविद्या की भी इसमें सत्ता है। प्राणविद्या एवं प्रतीकोपासना जैसे विषय मुख्य रूप से आरण्यक में निरूपित किये गये है।

उपनिषदों के समान आरण्यक-ग्रन्थ भी एक ही मूलसत्ता को मानते हैं, जो इस सृष्टि के रूप में विकसित हुई है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक ही तत्त्व कैसे अनुस्यूत है, इसका निरूपण ऐतरेयारण्यक में इस प्रकार हुआ है - **एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा एतमस्यामेतं दिव्येतं वायवेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्म इत्याचक्षते।**

ऐतिहासिक सन्दर्भो में उपादेय अनेक नवीन तथ्यों का परिज्ञान भी आरण्यकों से होता है। यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में आता है। यथा – **प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽपसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्राह्मणे यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत् (2.1.1)।**

काण्व बृहदारण्यक में संन्यास का विधान स्पष्ट शब्दों में है। कहा गया है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी संन्यास धारण करते हैं –

ऐतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति (4.4.22)। ब्रह्म, आत्मा और पुनर्जन्मादि विषयों का आरण्यक में विशद विवेचन प्राप्त होता है।

2.19 आरण्यकों के प्रवचनकर्ता

अधिकांश ब्राह्मण ग्रंथो के अन्तिम भाग होने के कारण सम्बन्धित ब्राह्मणों के प्रवचनकर्ताओं की ही आरण्यकों का प्रवचनकर्ता माना गया है। यथा – ऐतरेय आरण्यक, ऐतेरय ब्राह्मण का अन्तिम भाग है अत: महिदास ऐतरेय को ही दोनों का प्रवचनकर्ता माना गया है।

शांखायन आरण्यक के द्रष्टा गुणाख्य शांखायन है। इनके गुरु थे कहोल कौषीतकि, इसका वर्णन 15वें अध्याय में स्पष्ट है – **नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्माभिरधीतं गुणाख्यः शाङ्खायनः कहोलात्कौषीतकेः।**

बृहदारण्यक शतपथ के अन्तर्गत होने के कारण याज्ञवल्क्य ही इसके प्रवचनकर्ता के रूप में स्वीकृत हैं।

सायणाचार्य के मत में तैत्तिरीय आरण्यक के रूप में प्रख्यात कृष्णयजुर्वेदीय आरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ है – इस प्रकार इसे काठक आरण्यक के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए –

कठेन मुनिना दृष्टं काठकं परिकीर्त्यते।
सावित्रो नाचिकेतश्च चातुर्होत्रस्तृतीयकः।।
तुर्यो वैश्वसृजस्तद्ब्राह्मणं वह्निारुणकेतुकः।
स्वाध्यायब्राह्मणं चेति सर्वं काठमीरितम्।।

मैत्रायणीय-आरण्यक ही मैत्रायणीय उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण सामवेद के अन्तर्गत तलवकार आरण्यक रूप में ख्याति प्राप्त है।

2.20 आरण्यक ग्रंथो का देश – काल

आरण्यकों के देश-काल की अवधारणा ब्राह्मण ग्रंथो के समान ही है। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा-यमुना का तटवर्ती मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास स्थान बताया गया है – **नमो गंगायमुनयोर्मध्ये ये वसन्ति ते मे प्रसन्नात्मानश्चिरं जीवितं वर्धयन्ति नमो गंगायमुनयोर्मुनिभ्यश्च (तै.आ.2.20)**। इसी आरण्यक में अग्रिम क्रम में कुरुक्षेत्र तथा खाण्डववन का वर्णन है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध कुरु पाञ्चाल जनपदों से रहा है। शांखायन आरण्यक(6.1) में उशीनर, मत्स्य, कुरु- पाञ्चाल और काशी तथा विदेह जनपदों का वर्णन है।

मैत्रायणीय आरण्यक(6.9) में तत्कालीन भारत के अनेक प्रतापी सम्राटों के नाम प्राप्त होते हैं – अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः। केचित् सुद्युम्न-भूरिद्युम्न-इन्द्रद्युम्न-कुवलयाश्च-यौवनाश्ववध्रयश्व–अश्वपति-शशबिन्दु-हरिचन्द्र-अम्बरीषनन्वतु-शर्याति-ययाति-अनरणि-अक्षसेनादय:।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि आरण्यकग्रंथो का प्रदेश प्राचीन भारत का प्राय: मध्यभाग है।

2.21 आरण्यक ग्रंथो की भाषा एवं शैली

आरण्यकों की भाषा सामान्यतया ब्राह्मणों के समान ही है। ऐतरेय-आरण्यक में, अनेक स्थलों पर ऐतरेय-ब्राह्मण के वाक्य जैसे के तैसे उद्धृत है। प्राय: यह वैदिकी और लौकिक संस्कृत के मध्य की भाषा है। जैमिनीय शाखा के तलवकार-आरण्यक की भाषा में अन्य आरण्यकों की अपेक्षा, अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। शैली में वर्णनात्मकता अधिक है। मन्त्रों के उद्धरणपूर्वक अपने प्रतिपाद्य का

निरूपण करने की शैली आरण्यकग्रंथो में प्राय: पाई जाती है। आरण्यकों के उन भागों में, जो आज उपनिषद् के रूप में प्रतिष्ठित हैं, संवादमूलक संप्रश्न-शैली भी दिखाई देती है।

2.22 आरण्यक ग्रंथो का परिचय

1. ऐतेरेयारण्यक

ऋग्वेद से सम्बद्ध इस आरण्यक में पांच प्रपाठक है जो पृथक् आरण्यक के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्कैवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का वर्णन है। इस आरण्यक के चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक संहितोपनिषद् के रूप में भी प्रसिद्ध है। इसमें संहिता, पद, क्रम पाठों तथा स्वर-व्यंजनादि के स्वरूप का वर्णन है। इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय के मतों का उल्लेख है। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाओं का संग्रह है। पंचम आरण्यक में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन के निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है।

इस आरण्यक से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। कथन से ज्ञात होता है कि पत्नी को प्राप्त करके ही पुरुष पूर्ण होता है – **पुरुषो जायां क्त्विा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते(1.3.5)।** नैतिकता पर इस आरण्यक में विशेष अवधान दिया गया है। सत्यवादी लौकिक सम्पत्ति तो प्राप्त करता ही है, वैदिकानुष्ठानों से कीर्तिभाजन भी हो जाता है – **तदेतत् पुण्यं फलं वाचो यत्सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याण-कीर्तिर्भवितो: पुष्पं हि फलं वाच: सत्यं वदति(2.3.6)।**

2. शाङ्खायनारण्यक

इस आरण्यक में 15 अध्याय है। इसके तृतीय से षष्ठ पर्यन्त अध्याय कौषीतकि उपनिषद् कहलाते है। सप्तम-अष्टम अध्याय संहितोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो अध्यायों में महाव्रत का वर्णन है। नवम अध्याय में प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है। दशम अध्याय में आन्तर आध्यात्मिक अग्निहोत्र का विशद तथा सर्वांगीण निरूपण है। एकादश अध्याय में मृत्यु के निराकरण के लिए विशिष्ट याग विहित है। इसी अध्याय में स्वप्नों के फल उल्लिखित हैं। अनिष्ट निवारणार्थ होमरूप शान्तिकर्म विहित है। द्वादश अध्याय में आशीर्वाद की प्रार्थना तथा फल कथन है। समृद्धिकामी व्यक्ति के लिए बिल्व के फल से मणि बनाने की प्रक्रिया दी गई है। त्रयोदश अध्याय में बतलाया गया है कि व्यक्ति पहले विरक्त होकर अपने शरीर का अभ्यास करे। इस संक्षिप्त अध्याय में तपस्या, श्रद्धा, शान्ति और दमनादि के उपायों का पालन करने का निर्देश है। चतुर्दश अध्याय में केवल दो मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि उपर्युक्त **अहं ब्रह्मास्मि** वाक्य ऋचाओं का मूर्धा है, यजुषों का उत्तमांग है, सामों का शिर है एवं आथर्वण मन्त्रों का मुण्ड है। इसे समझे बिना जो वेदाध्ययन करतो है, वह मूर्ख है। दूसरा सुप्रसिद्ध मन्त्र **स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्** है। जिसमें अर्थज्ञानाभाव से युक्त वेद पाठी की निन्दा की गई है। पञ्चदश अध्याय में आचार्यों की वंश परम्परा है।

3. बृहदारण्यक

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस आरण्यक में आत्मतत्त्व का विशेष विवेचन किया जाने के कारण यह उपनिषद् माना गया है। आकार में बड़ा होने के कारण बृहत् नाम हो जाना स्वाभाविक है। यह 06 अध्यायों में विभक्त है जिनका अवान्तर विभाग ब्राह्मण में है। आहत्य समस्त अध्यायों में 47 ब्राह्मण है।

4. तैत्तिरीयारण्यक

इस आरण्यक में 10 प्रपाठक है। इन्हें सामान्यतया **अरण** कहा जाता है। प्रत्येक प्रपाठक का नामकरण इनके आदि पद पर आश्रित है। यथा – भद्र, सहवै, चिति, युञ्जते, देव वै, परे, शिक्षा, ब्रह्मविद्या, भृगु तथा नारायणीय। इसके सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक को मिला देने से तैत्तिरीयोपनिषद् सम्पन्न हो जाती है। दशम प्रपाठक की प्रसिद्धि महानारायणोपनिषद् के रूप में है। इस प्रकार व्यावहारिक रूप से मूल आरण्यक 06 प्रपाठकों में ही है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाग अनुवाकों में है। पहले 06 प्रपाठकों की अनुवाक् संख्या इस प्रकार है – 32, 20, 21, 42, 12 , 12 = 138। प्रथम प्रपाठक में आरुणकेतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टकाचयन का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पंच महायज्ञों का वर्णन है। इसी प्रसंग में सर्वप्रथम यज्ञोपवीत का विधान है। द्वितीय अनुवाक में सन्ध्योपासन विधि है। तृतीय एवं चतुर्थ प्रपाठको में क्रमशः चातुर्होत्रचिति तथा प्रवर्ग्य होम से सम्बद्ध मन्त्र संकलित है। चतुर्थ में ही अभिचार मन्त्रों का उल्लेख है। पंचम प्रपाठक में यज्ञीय संकेत है। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्र है।

5. तलवकारारण्यक

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण सामवेद सम्बद्ध तलवकार आरण्यक के रूप में प्रसिद्ध है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाग अनुवाकों में है। इसके चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक् में प्रसिद्ध तवलकार या केन उपनिषद है। इस आरण्यक का विशेष महत्त्व प्राचीन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों एवं ऐसे ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानो के कारण है, जिनमें बहुविध प्राचीन विश्वास तथा रीतियां सुरक्षित हैं।

2.23 वैदिक आख्यान का स्वरूप

वैदिकसंहिताओं, ब्राह्मणग्रंथो, आरण्यकों तथा उपनिषदों में विभिन्न आख्यान विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से आये हैं। ऋग्वेद में आये आख्यानों की संख्या 36 है। इन ही आख्यानों का परवर्ती साहित्य में भी उपबृंहण हुआ है, जिन्हें ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, बृहद्देवता महाभारत एवं पुराणों में देखा जा सकता है। 12वीं शती में पं. द्या द्विवेद ने नीतिमञ्जरी के नाम से ऋग्वेदीय आख्यानों को सङ्कलित किया था, जिसका उल्लेख आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में किया है। 1993 में प्रकाशित डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र की **वैदिक कथा वल्लरी** भी नीतिमञ्जरी जैसा ही अभिनव ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

2.24 शुनःशेप आख्यान का परिचय

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यानों का विशाल सङ्कलन है। प्रस्तुत आख्यान का सम्बन्ध भी इसी ब्राह्मण की सप्तम पञ्चिका के तीसरे अध्याय अथवा दूसरे शब्दों में 33वें अध्याय से है। इस आख्यान के माध्यम से कर्मनिष्ठ जीवन एवं पुरुषार्थ साधना का महत्त्व प्रतिपादन सम्यक्तया किया गया है। अथक परिश्रम से ही श्री की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति सदा परिश्रमशील होता है उसका भाग्य भी निरन्तर प्रवाहयुक्त रहता है। सूर्य से हमें सतत परिश्रम की प्रेरणा प्राप्त होती है। यथा ऐतरेय ब्राह्मण (33.1) में आया है –

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥
चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥